RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452 Raaso
Refreed Journal

रासो

अन्तर्विषयी त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-16, अंक-3, जून जुलाई अगस्त 2023

रासो त्रैमासिक शोध पत्रिका 2005 ॥ स्वस्ति पन्थामनु चरेम ॥

RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452Raaso
Refreed Journal

रासो

इतिहास, संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन की त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-16 | अंक - 3 | जून-जुलाई-अगस्त-2023

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

निदेशक
कॉम्पिटिशन प्लस संस्थान, ग्रुप ऑफ इन्स्टिट्यूशन्स, अजमेर (राजस्थान)

संरक्षक

* **प्रो. जे. पी. शर्मा** - पूर्व कुलपति, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

सलाहकार मण्डल

* **प्रो. विभा उपाध्याय** - प्रोफेसर, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
* **नर्मदा प्रसाद उपाध्याय** - प्रसिद्ध साहित्यकार तथा संस्कृति चिंतक, इन्दौर (मध्य प्रदेश)
* **प्रो. टी.के. माथुर** - पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर (राज.)
* **डॉ. रमेश अग्रवाल** - पूर्व स्थानीय सम्पादक, दैनिक भास्कर, अजमेर (राजस्थान)
* **डॉ. गौरव बिस्सा** - सहआचार्य, विभागाध्यक्ष, प्रबंध अध्ययन विभाग, राजकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय, बीकानेर (राज.)
* **डॉ. बीना शर्मा** - पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सावित्री कन्या महाविद्यालय, अजमेर
* **प्रो. शोभा आर. मिश्रा** - आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, माधव महाविद्यालय, उज्जैन
* **डॉ. वेद प्रकाश विद्यार्थी** - पूर्व सहायक निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली।

☆ उप सम्पादक
डॉ. रीता पारीक
प्राचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ प्रबन्ध सम्पादक
डॉ. मृत्युंजय शर्मा
सह-आचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ सहायक सम्पादक
डॉ. निष्काम शर्मा

☆ शब्द संयोजन
मुकेश कुमार माहेश्वरी

☆ सम्पादकीय/सचिव
व्यवस्थापकीय कार्यालय
सृजन संस्थान,
आचमन, वेद विहार,
लोहाखान, अजमेर-06
दूरभाष : 0145-2426610
e-mail : rasoajmjournal@gmail.com

☆ प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
सृजन संस्थान,
द्वारा आचमन पब्लिकेशन्स,
अजमेर

☆ मुद्रक :
मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स,
केसरगंज, अजमेर

☆ कम्प्यूटराइज्ड सेटिंग :
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स
132, पंचवटी कॉलोनी,
अजमेर दूरभाष : 0145-2442701

सहयोग दर

* वार्षिक सदस्यता - 500 रु. (चार अंक) संस्थाओं हेतु - 600 रु. (चार अंक)
कृपया चैक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर श्रीमती पुष्पा शर्मा, प्रकाशक, आचमन पब्लिकेशन्स, अजमेर- 305006 के नाम भेजें।

प्रकाशक-श्रीमती पुष्पा शर्मा, 51/1509, वेद विहार, लोहाखान, अजमेर द्वारा मैसर्स सृजन संस्थान, अजमेर की ओर से प्रकाशित एवं मुद्रक-श्रीमती उषा गर्ग द्वारा मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स, केसरगंज, अजमेर से मुद्रित।

प्राचीन भारत में गुरु-शिष्य परम्परा के प्रमुख तत्त्व

अनिता मालिया
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

प्राचीन भारत की शिक्षा व्यवस्था में गुरु–शिष्य परंपरा का विशेष स्थान था। शिक्षा केवल पुस्तकीय ज्ञान तक सीमित नहीं थी, बल्कि इसका उद्देश्य व्यक्ति को नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भी परिपक्व बनाना था। इस पद्धति में शिक्षा का मुख्य स्तंभ गुरु और शिष्य थे। गुरु का कार्य केवल जानकारी देना नहीं था; वह शिष्य के अज्ञान के अंधकार को दूर कर उसे ज्ञान के प्रकाश से आलोकित करता था। शिष्य की जिम्मेदारी थी कि वह पूर्ण समर्पण और अनुशासन के साथ गुरु के आदेशों का पालन करे और उसकी सेवा में उपस्थित रहे।

गुरु और शिष्य का संबंध प्राचीन भारत में पिता–पुत्र जैसे स्नेहपूर्ण माना जाता था। उपनयन संस्कार के समय शिष्य ब्रह्मचारी बनकर गुरु के आध्यात्मिक और बौद्धिक मार्गदर्शन में प्रवेश करता। आचार्य शिष्य को न केवल विद्या का अध्ययन कराते थे, बल्कि उसकी नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति का भी ध्यान रखते थे। शिष्य की कमियों और निर्बलताओं का उत्तरदायित्व गुरु पर था; यदि शिष्य में कोई दोष होता तो उसे सुधारने का दायित्व गुरु का माना जाता था।

शिक्षा पद्धति में गुरु शिष्य से कोई शुल्क नहीं लेते थे। इसके विपरीत, वह शिष्य के जीवन की सभी भौतिक आवश्यकताओं – भोजन, वस्त्र, निवास और स्वास्थ्य – का प्रबंध करते थे। यदि शिष्य बीमार पड़ता तो आचार्य उसकी चिकित्सा का भी ध्यान रखते थे। इस प्रकार गुरु–शिष्य का संबंध केवल ज्ञान प्रदान करने तक सीमित नहीं था, बल्कि यह पारस्परिक स्नेह, श्रद्धा और जिम्मेदारी पर आधारित था।

गुरु शिष्य के लिए एक मार्गदर्शक, संरक्षक और अभिभावक की भूमिका निभाते थे। वे शिष्य को चौदह विद्याओं में दक्ष बनाते और उसे जीवन में प्रत्येक क्षेत्र में योग्य बनाते थे। शिष्य अपनी शिक्षा और सेवा के माध्यम से गुरु के प्रति कृतज्ञता और सम्मान प्रकट करता। इस पद्धति के माध्यम से न केवल ज्ञान का आदान–प्रदान होता था, बल्कि समाज में नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का विकास भी सुनिश्चित होता था। इस प्रकार प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति का गुरु–शिष्य संबंध अति पवित्र, गौरवपूर्ण और स्नेहपूर्ण माना जाता था।

भारतीय शिक्षा–पद्धति में गुरुओं का सम्मान अति महत्वपूर्ण माना जाता रहा है। प्राचीन भारत में विद्या की प्राप्ति के लिये गुरु की महत्ता को सर्वोच्च स्थान दिया गया था। शिक्षा की प्रारंभिक प्रक्रिया वेदों के अध्ययन से होती थी, जिसमें मंत्रों का शुद्ध उच्चारण आवश्यक था। इस उच्चारण की शुद्धता केवल गुरु के निर्देशन और उनके सामने अभ्यास करके ही सुनिश्चित की जा सकती थी। गुरु अध्यापन के लिये किसी

शोध-पत्र में उल्लिखित सन्दर्भ एवं विचारों के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

प्रकार का शुल्क नहीं लेते थे, अत: वे केवल ज्ञान के स्रोत ही नहीं, बल्कि सामाजिक और नैतिक दृष्टि से भी अत्यधिक सम्मान के पात्र होते थे।

शास्त्रों में स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि केवल पुस्तकों का अध्ययन करने से विद्या प्राप्त नहीं होती। शिष्य को गुरु के समीप रहकर अध्ययन करना आवश्यक था; बिना गुरु की उपस्थिति के अध्ययन करने वाला विद्वान् भी विद्वानों के मध्य में आदरणीय नहीं माना जाता। यही कारण है कि आचार्य के सम्मान की रक्षा करना शिष्य का परम पुण्य और कर्तव्य था। गुरु की निंदा करना महान अपराध माना गया; यदि कोई अन्य व्यक्ति गुरु की निंदा करे, तो शिष्य उसे सहन नहीं कर सकता। इस संदर्भ में, विशाखदत्त ने अपने नाटक 'मुद्राराक्षस' में लिखा है कि जो शिष्य अपने गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करते हैं या उनका अपमान करते हैं, उनका हृदय लज्जा से फट जाना चाहिए। इस प्रकार गुरु-शिष्य संबंध केवल ज्ञान के आदान-प्रदान तक सीमित नहीं था, बल्कि इसमें नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक जिम्मेदारियों का समावेश भी था। गुरु का सम्मान शिष्य की शैक्षिक, सामाजिक और आध्यात्मिक परिपक्वता का प्रतीक माना जाता था।

गुरु का व्यवहार :

प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति में केवल शिष्य की जिम्मेदारियों पर ही नहीं, बल्कि गुरु के व्यवहार और कर्तव्यों पर भी विशेष ध्यान दिया गया है। शिष्य के व्यवहार को देखकर गुरु के लिए कई व्यावहारिक कर्तव्यों का निर्देश प्राचीन साहित्य में मिलता है। इन कर्तव्यों में सबसे प्रमुख दो तत्त्व हैं। पहला, गुरु को सभी शिष्यों के प्रति समान व्यवहार करना चाहिए। वह किसी भी प्रकार का भेदभाव किए बिना शिक्षा प्रदान करे और प्रत्येक शिष्य के साथ समान सम्मान और ध्यान रखे। दूसरा, गुरु अपने पास उपलब्ध सम्पूर्ण ज्ञान शिष्य को प्रदान करे। उसे कोई भी ज्ञान छिपाना नहीं चाहिए। गुरु का कर्तव्य था कि वह अपना संपूर्ण ज्ञान शिष्यों के लाभ के लिए उपलब्ध कराए।

गुरु अपने शिष्यों के लिए अत्यधिक आदरणीय और पूजनीय होते थे। तथापि इसके लिए यह आवश्यक था कि वे गुणी, गौरवशाली और शिष्यों के कल्याण की भावना से परिपूर्ण हों। यदि कोई गुरु दुर्वृत्त, उद्धत, कुमार्गगामी या अपने कार्य और कर्तव्यों में अज्ञानशील होता, तो शिष्य को उसके अधीन रहना उचित नहीं था और उसे ऐसे गुरु का त्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार, गुरु का व्यक्तित्व और उसका नैतिक व्यवहार शिष्य की शिक्षा और उसके जीवन पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालता था। केवल विद्या ही नहीं, बल्कि गुरु का आचार-व्यवहार भी शिष्य के नैतिक और सामाजिक विकास का आधार माना जाता था।

कुलपति :

प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति में कुलपति का पद अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता था। शिक्षा संस्थाओं के रूप में आश्रम और तपोवन प्रमुख थे, जो समय के साथ विकसित होकर बड़े शिक्षा केंद्र बन गए। इन शिक्षा केंद्रों में विभिन्न विषयों के लिए अलग-अलग विभाग स्थापित किए गए और अनेक आचार्य विभिन्न विद्याओं का अध्ययन कराने के लिए एकत्रित हुए। उदाहरण के लिए, नैमिषारण्य में विभिन्न विषयों के अध्ययन हेतु विद्यालयरूपी आश्रम विकसित हुए। हिमालय की तलहटी में मालिनी नदी के तट पर भी बड़े-से-बड़े आश्रम विकसित हुए थे। इन आश्रमों का संचालन एक अध्यक्ष द्वारा किया जाता था, जिसे कुलपति कहा जाता था।

कुलपति अपने आश्रम के छात्रों के अध्ययन, भोजन, वस्त्र, निवास और अन्य आवश्यकताओं का नि:शुल्क प्रबंध करते थे। प्राचीन शास्त्रों में उल्लेख है कि कुलपति वह व्यक्ति होता है, जो दस हजार छात्रों के भोजन और अन्य आवश्यकताओं की व्यवस्था कर अध्ययन का सुव्यवस्थित संचालन कर सके। उनके पास सभी प्रकार के साधन और संसाधन उपलब्ध होते थे। 'रामायण' में वर्णित है कि जब भरत के नेतृत्व में अयोध्या के नागरिक और सैन्य कुलपति भारद्वाज के आश्रम में आए, तो उन्होंने सभी का यथायोग्य सत्कार किया। इसी प्रकार, शकुन्तला को पतिगृह के लिए विदा करते समय कुलपति कण्व ने उन्हें विविध आभूषणों, वस्त्रों, प्रसाधनों और अन्य उपहारों के साथ ससुराल भेजा।

वृहदारण्यक उपनिषद में आचार्य कुलपति आरुणि ने अपनी संपत्ति का वर्णन करते हुए कहा कि उनके पास पर्याप्त मात्रा में स्वर्ण, गायें, घोड़े, दासियां, कम्बल और वस्त्र हैं। कुलपतियों के पास यह सम्पूर्ण वैभव राजकीय अनुदानों और शिष्यों द्वारा प्रदत्त गुरु-दक्षिणा से प्राप्त होता था। उदाहरणत:, वरतन्तु के शिष्य कौत्स ने अपने गुरु के लिए अयोध्या के राजा रघु से चौदह करोड़ स्वर्ण मुद्राओं का संग्रह कर गुरु-दक्षिणा के रूप में अपने गुरु को अर्पित किया। इस प्रकार कुलपति न केवल शिक्षा और अध्ययन का संचालन करते थे, बल्कि शिष्यों और समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारियों और सत्कार की भावना में भी आदर्श रूप में खड़े रहते थे।

शिक्षकों का वर्गीकरण :

प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति में शिक्षकों का वर्गीकरण स्पष्ट रूप से किया गया था। शिक्षकों के लिए मुख्यत: चार पदों का प्रयोग मिलता है—कुलपति, गुरु, आचार्य और उपाध्याय। इनके अतिरिक्त, कुछ ग्रंथों में अतिगुरु का भी उल्लेख मिलता है। प्रत्येक पद के शिक्षक की भूमिका और दायित्व अलग-अलग थे।

गुरु :- गुरु पद का संबंध केवल विद्याध्ययन तक सीमित नहीं था, बल्कि यह कई अन्य कार्यों और विधियों से भी जुड़ा था। किसी भी व्यक्ति को जो उत्तम गुणों से परिपूर्ण और आदरणीय हो, उसे गुरु कहा जा सकता था। शिक्षक को समाज में अत्यधिक सम्मान प्राप्त होता था, इसलिए ऐसे व्यक्ति को गुरु कहा गया। कुलविशेष के गुरु को कुलगुरु कहा जाता था।

आचार्य :- आचार्य पद का उपयोग भी शिक्षकों के लिए आम था, और यह उपाध्याय की तुलना में अधिक सम्मानजनक माना जाता था। आचार्य का कार्य केवल ज्ञान प्रदान करना नहीं था, बल्कि वह छात्रों को श्रेष्ठ आचार, बुद्धि और अर्थ भी ग्रहण कराता था। वेदों का अध्ययन और अध्यापन आचार्य की विशेषता थी। प्राचीन शास्त्रकारों, जैसे गौतम, विष्णु 24 और वसिष्ठ के वचन, इस बात का प्रमाण देते हैं कि वेद शिक्षा का मुख्य विषय थी और आचार्य इसे छात्रों को सिखाते थे। मनु ने भी आचार्य की प्रशंसा करते हुए कहा है कि वेदों में पारंगत आचार्य विप्रों में श्रेष्ठ होते हैं और वे ब्रह्मा की मूर्ति के समान माने जाते थे।

उपाध्याय :- उपाध्याय का स्थान आचार्य के बाद था। उपाध्याय वेद के किसी विशेष अंश या किसी विशेष विद्या का अध्यापन कराते थे। मनु ने शिक्षकों का वर्णन करते हुए कहा है कि कुछ शिक्षक शुल्क लेते थे और कुछ नहीं। उपाध्याय वे शिक्षक होते थे जो किसी विशेष वेद या वेदांग का अध्ययन

कराते थे और इसके लिए छात्रों से निर्धारित शुल्क लेते थे। वे अपने विद्यालय में छात्रों को नियत अवधि के लिए प्रवेश देते थे। राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार उपाध्याय विशेष वेदांग या विद्या में विशेषज्ञ होते थे और पूरक शिक्षा प्रदान करते थे।

अतिगुरु :- अतिगुरु पद का अर्थ होता है वह गुरु जो सामान्य गुरुओं की तुलना में अधिक श्रेष्ठ और प्रतिष्ठित माना जाता था। प्राचीन शास्त्रकारों ने आचार्य को भी अतिगुरु कहा है। भारतीय समाज में माता को प्रथम गुरु, पिता को द्वितीय गुरु और आचार्य को अंतिम गुरु माना गया। श्विष्णुस्मृति के अनुसार इन तीनों—माता, पिता और आचार्य—को अतिगुरु माना गया है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति का आधार गुरु-शिष्य परम्परा थी। शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञान देना नहीं, बल्कि शिष्य का नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक विकास करना था। गुरु का स्थान सर्वोच्च माना गया और विद्या की प्राप्ति गुरु के सान्निध्य में ही संभव समझी गई। शिष्य के लिए गुरु-सेवा, आज्ञापालन और सम्मान अनिवार्य कर्तव्य थे। गुरु-शिष्य का संबंध पिता-पुत्र के समान पवित्र था। गुरु शिष्य की विद्या, आचरण और जीवन-निर्माण का उत्तरदायित्व निभाता था तथा उससे कोई शुल्क नहीं लेता था। गुरु का सम्मान करना आवश्यक माना गया और उसकी निंदा को महान अपराध समझा गया। साथ ही गुरु को सभी शिष्यों के प्रति समान व्यवहार करना और अपना सम्पूर्ण ज्ञान प्रदान करना उसका कर्तव्य था। प्राचीन शिक्षा आश्रमों और तपोवनों में दी जाती थी, जिनका संचालन कुलपति करते थे। कुलपति छात्रों के अध्ययन और जीवन-निर्वाह की पूर्ण व्यवस्था करते थे। शिक्षकों का वर्गीकरण गुरु, आचार्य, उपाध्याय और अतिगुरु के रूप में था, जिनमें आचार्य का स्थान विशेष था। इस प्रकार प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति एक अनुशासित, मूल्यपरक और सर्वांगीण विकास पर आधारित व्यवस्था थी।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. *प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति, डॉ. के. के. सूची, शांति प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015*
2. *भारतीय शिक्षा दर्शन, रामस्वरूप अरोड़ा, भारतीय शास्त्रीय शिक्षा संस्थान, लखनऊ, 2010*
3. *रामायण—वाल्मीकि, अनुवादकः डॉ. सुरेश चंद्र शर्मा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2003*
4. *वृहदारण्यक उपनिषद, अनुवादकः डॉ. रामकुमार शर्मा, राधा प्रकाशन, वाराणसी, 2018*
5. *प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था, डॉ. रामकुमार शर्मा, राधा प्रकाशन, वाराणसी, 2018*
6. *आपस्तंब संहिता, अनुवादकः डॉ. सुरेश चंद्र शर्मा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2004*
7. *भारतीय शिक्षा और संस्कृति, प्रो. जे. एस. मैकेंजी, यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 1927*
8. *विशाखदत्त, मुद्राराक्षस, अनुवादकः डॉ. सुरेश चंद्र शर्मा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2002*
9. *मनु स्मृति, अनुवादकः डॉ. सुरेश चंद्र शर्मा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2004*
10. *राधाकुमुद मुकर्जी, प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था, राधा प्रकाशन, वाराणसी, 2015*
11. *विष्णुस्मृति, अनुवादकः डॉ. रामकुमार शर्मा, राधा प्रकाशन, वाराणसी, 2018*